International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS)
ISSN : 2581-9925, Impact Factor: 6.340, Volume 03, No. 02(III), April - June, 2021, pp.221-225

समानान्तर हिन्दी सिनेमा में स्त्री

सीमा खड़कवाल*

सार

समानान्तर सिनेमा ने व्यावसायिक सिनेमा में फार्मूलाबद्ध स्त्री–किरदारों की जगह सामाजिक यथार्थ की जमीन पर जीती–जागती स्त्री को अपनी फिल्मों में प्रस्तुत किया। पहली बार हिन्दी सिनेमा के दर्शको को समाज में स्त्री पर होने वाले अत्याचार और उत्पीड़न की सच्ची तस्वीर दिखायी। लेकिन समानान्तर सिनेमा की विशेषता है कि इसके स्त्री पात्र अन्याय–अत्याचार को खामोशी से नहीं सहते बल्कि सदैव परिस्थितियों से दो–दो हाथ करते दिखाई देते है। समानान्तर सिनेमा की इस परम्परा को सत्यजित राय, ऋत्विक घटक, मृणाल सेन, मणि कौल, बासु चटर्जी, अडूरगोपाल कृष्णन, कुमार शाहनी, गौतम घोष, अर्पणा सेन, एम. एस. सथ्यू, श्याम बेनेगल, गोविन्द निहलानी, सई परांजपे, केतन मेहता, जी. अरविन्दन जैसे हस्ताक्षरों ने समृद्ध किया है। यह आन्दोलन सामन्ती परिवेश की जड़ता को खत्म करने, स्त्री–अधिकारों की मुक्ति के प्रश्न और शोषितों–उत्पीड़ितों के सहज प्रतिरोध को उभारने में भारतीय समाज की मदद करता है। शायद इसी कारण से यह मूलतः साहित्य से अपने सृजनात्मक सम्बन्धों की बिना पर एक अखिल भारतीय आन्दोलन का स्वरूप अख़्तियार कर पाया।

कुंजीशब्दः *समानान्तर सिनेमा, स्त्री–अधिकार, हिन्दी सिनेमा, लोकप्रिय सिनेमा.*

प्रस्तावना

भारत में सिनेमा केवल मनोरंजन का ही नहीं जनंसचार का भी बेहतर माध्यम है। सिनेमा आज हमारे सामाजिक जीवन का अपरिहार्य अंग बन चुका है। बड़े–बड़े महानगरों से लेकर छोटे–छोटे गाँवों और ढ़ाणियों तक सिनेमा की पहुँच और प्रभाव दोनों देखे जा सकते है। "सिनेमा माध्यम का सामाजिक होना उसके यथार्थवादी होने की गारंटी नहीं है। लोकप्रिय सिनेमा की कठिनाई यह है कि वह शुरू से ही इतना लाउड, एक्सप्रेसिव और एग्रेसिव रहा है कि यथार्थ के नाम पर जब उसे सहज, लघु और अनाटकीय बनाने का प्रयत्न होता है तो वह साधारण और अप्रभावी लगने लगता है।"[1] जब यह फिल्में सामाजिक मुद्दों को उठाती है और जिन्दगी के संघर्ष को दिखाती है तो अपनी प्रस्तुति में एक तरह का अतिरेक या ग्लैमर ग्रहण कर लेती है। 'अछूत कन्या' में अछूत समस्या को उठाया गया है। फिल्म में नायिका कस्तूरी (देविका रानी) एक ब्राह्मण युवक से प्रेम करती है। नायक–नायिका साथ–साथ घूमते हैं और गाना गाते है जबकि वास्तविक जीवन में ऐसा कभी नहीं होता। मदर इंडिया में भूख से बिलखते बच्चे या बैलों के न होने पर अपने काँधे पर अकेले हल का जुआ ढोती स्त्री या मुगल–ए–आजम में सिर से पैर तक जंजीरों में जकड़ी हुई नायिका[2], साहब बीबी और गुलाम में शराब के नशे में चूर होकर पति के साथ के लिए तड़पती छोटी बहू, या काँच के टुकड़ो पर नाचती पाकीजा की साहिबजान, खून भरी माँग में प्रतिशोध के लिए अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से बदलने वाली स्त्री– ये सभी दृश्य ऐसे सिनेमाई यथार्थ की सृष्टि करते है कि जिन्दगी के वास्तविक दर्द और संघर्ष पर सिनेमा का ग्लैमर हावी होता नजर आता है।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि लोकप्रिय सिनेमा ने पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की स्थिति और स्त्री जीवन से सम्बन्ध रखने वाली विभिन्न समस्याओं को नहीं उठाया। सिनेमा के आरम्भिक दौर से ही फिल्मकारो ने स्त्री समस्याओं को ध्यान में रखकर अनेक फिल्में बनाई है। 'अछूत कन्या' में अछूत समस्या के साथ अन्तर्जातीय

---

* सह आचार्य–हिन्दी, स्व. राजेश पायलट राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बाँदीकुई, दौसा, राजस्थान।

विवाह की समस्या, 'दुनिया न माने' में बेमेल विवाह की समस्या, 'बाल योगिनी' में उच्च जातियों में विधवाओं की दुर्दशा, 'अमर ज्योति' में विवाह संस्था के भीतर स्त्री की गुलामी, 'जेलर' कुंवारी माँ के संघर्ष को और 'बसन्ती', 'पड़ोसी', 'साधना' समाज में वेश्याओं की स्थिति को, मदर इण्डिया ग्रामीण एवं किसान स्त्री के संघर्ष को, मुगल–ए–आजम प्रेम में दीवार बनी अमीरी–गरीबी की खाई और वर्गभेद को, 'धूल का फूल' कुंवारी माँ की बेबसी और अर्न्तव्यथा को, निकाह मुस्लिम समाज में तलाक की समस्या को दर्शाती है। लेकिन इन सभी फिल्मों में यथार्थ की कठोरता पर नाटकीयता का आवरण चढ़ा हुआ है जो दर्शकों को मनोरंजन की दुनिया में ले जाता है और दर्शक उस दर्द की कड़वाहट को भूलकर उन दृश्यों की मिठास में डूब जाते है। राजकपूर, के.ए.अब्बास, बिमल रॉय, गुरूदत्त, वी.शान्ताराम, बी.आर.चोपड़ा जैसे फिल्मकार स्त्री जीवन से सम्बन्धित विभिन्न मुद्दों को अपनी फिल्मों में उठा रहे थे लेकिन समानान्तर सिनेमा ने इन्ही मुद्दों को पूरी सच्चाई के साथ उठाया और यथार्थ रूप में दिखाया अर्थात् जो जैसा है उसे वैसा ही प्रस्तुत कर दिया। भारत में साठ के दशक से लोकप्रिय और व्यावसायिक सिनेमा के समानान्तर जो कला सिनेमा की धारा प्रवाहमान रही, उसे सिने समीक्षकों ने 'समानान्तर सिनेमा, कला सिनेमा, नई तरंग, क्षेत्रीय सिनेमा आदि विभिन्न नामों से पुकारा। "समानान्तर सिनेमा एक नई तरह की शैली/जॉनर का सिनेमा था जिसने व्यावसायिक सिनेमा के दौर में न सिर्फ अपना विकास किया बल्कि भारतीय सिनेमा के इतिहास में अपनी एक नई और अलग पहचान स्थापित की। समानान्तर सिनेमा से जुड़े फिल्मकार बहुत ही बुद्धिमान और पढ़े–लिखे थे, उन्होंने अपनी फिल्मों के द्वारा मध्यवर्गीय दर्शकों तक नए और प्रगतिशील विचार सम्प्रेषित किए।"[3]

भारतीय समानान्तर सिनेमा पर इटली के नवयथार्थवाद व फ्रांसीसी सिनेमा के यथार्थवाद का प्रभाव है। इटली और फ्रांस में बहुत से निर्माता–निर्देशक सन् 1930 से ही इस तरह की फिल्मों के निर्माण की ओर ध्यान दे रहे थे। इटली में इस तरह की फिल्मों को 'इटैलियन नियो रीयलिज्म' नाम दिया गया। फ्रांस में 1950 के दशक में बन रही इस तरह की यथार्थवादी शैली की फिल्मों को 'फ्रेंच न्यू वेव', ब्रिटेन और जर्मनी में बनी यथार्थवादी फिल्मों को क्रमशः 'ब्रिटिश न्यू वेव' और 'न्यू जर्मन सिनेमा' नाम से पहचाना गया। विश्व सिनेमा के इस प्रभाव को भारत के समानान्तर सिनेमा आन्दोलन पर देखा जा सकता है। भारत में मृणाल सेन निर्देशित व फिल्म वित्त निगम के सहयोग से निर्मित 'भुवन शोम' (1969) से हिन्दी में समानान्तर सिनेमा आन्दोलन आरम्भ हुआ। फिल्म वित्त निगम ने समानान्तर सिनेमा आन्दोलन को आर्थिक संबल दिया और अनेक फिल्मों के निर्माण की राह प्रशस्त हुई। समानान्तर आन्दोलन की फिल्में सामन्तवादी–पूँजीवादी समाज में जातिगत व्यवस्था और वर्ग असमानता के कारण हो रहे स्त्री के सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक और दैहिक शोषण को पूरी सच्चाई के साथ दर्शा रही थी।

लोकप्रिय सिनेमा स्त्री को आदर्शवादी छवि में प्रस्तुत कर रहा था, फिल्मों में नायिकाएँ सिर्फ हीरों के साथ रोमांस करने और नाच–गाने के लिए होती थी। नायिका केन्द्रित फिल्मों के अलावा अन्य फिल्मों में स्त्री मुद्दों के लिए ज्यादा गुंजाइश नहीं थी और यदि थी भी तो सतही तौर पर। समानान्तर सिनेमा ने मनोरंजनवादी तत्वों से परहेज करते हुए समाज की सच्चाई को प्रस्तुत किया। भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति और उसके जीवन से जुड़ी विभिन्न सामाजिक समस्याओं को पूरी सच्चाई के साथ पहली बार समानान्तर सिनेमा ने दिखाया, जिन्हें आज तक कभी फिल्मों में नहीं दिखाया गया था। दलित स्त्री, वेश्या और विधवा स्त्रियों जिन्हें समाज ने हमेशा हाशिये पर रखा और कभी इन्सान नहीं समझा, ऐसी स्त्रियों की जिन्दगी के स्याह पन्नों को समानान्तर सिनेमा ने दर्शको के सामने खोलकर रख दिया।

श्याम बेनेगल की फिल्म 'अंकुर' में लक्ष्मी निम्न जाति की गरीब स्त्री है। उसका पति किश्तैया उसे छोड़कर चला गया है। गांव के जमींदार का युवा पुत्र लक्ष्मी की तरफ आकर्षित है। वह उसे जिन्दगी भर की सामाजिक–आर्थिक सुरक्षा का आश्वासन देकर उससे शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। लक्ष्मी गर्भवती हो जाती है। सूर्या अपनी पत्नी के आते ही लक्ष्मी से सारे सम्बन्ध खत्म कर लेता है और उस पर गर्भपात करवाने के लिए दबाव बनाता है। लक्ष्मी गर्भपात करवाने से इन्कार कर देती है, वह स्वयं बच्चे की जिम्मेदारी उठाने के लिए तैयार है। सूर्या यही नहीं रूकता, वह लक्ष्मी के निर्दोष एवं मूक–बधिर पति को कोड़े से जानवरों की तरह

पीटता है। यह फिल्म उच्च एवं सम्पन्न वर्ग द्वारा गरीब एवं निम्न जातियों की स्त्रियों के शोषण को बिना किसी बनावटीपन के यथार्थ रूप में दर्शाती है। 'अंकुर' के ही एक दृश्य में हिन्दी सिनेमा में पहली बार एक स्त्री (राजम्मा) भरी पंचायत में कहने का साहस करती है, "ये बदन भी भगवान ने ही बनाया है और भूख सिर्फ पेट की नहीं होती.....।" स्त्री पहली बार रूपहले पर्दे पर अपनी देह की प्राकृतिक जरूरतों पर खुलकर बात करती नजर आती है। इसके विपरीत समाज का स्त्री को सम्पत्ति समझने का जो नजरिया है वह पंचों के फैसले में साफ सुना जा सकता है, "राजम्मा को अगर कोई शिकायत अपने मरद से है तो इसकी जिम्मेदारी उसके दोनों भाईयों पर भी है। औरत सिर्फ मरद की ही नहीं, घर की भी होती है। खानदान और जातवालो की भी होती है।" पितृसत्तात्मक समाज में सम्पत्ति की तरह औरत भी उपभोग और बंटवारे की वस्तु है।

श्याम बेनेगल की ही 'निशांत' में स्कूल मास्टर अपनी पत्नी सुशीला का अपहरण हो जाने के बाद उसे छुड़ाने के लिए पुलिस, नेता, वकील, अखबार के सम्पादक सभी के पास जाता है लेकिन हर जगह से उसे असफलता ही हाथ लगती है। आज भी महिलाओं के अपहरण और दुष्कर्म की घटनाओं के सम्बन्ध में पुलिस और प्रशासन का यही रवैया होता है। पीड़ित पक्ष न्याय के लिए सब तरफ चक्कर काटता रहता है और अन्त में थक कर चुपचाप अपने भाग्य पर आंसू बहाता हार मान लेता है। अंकुर की भाँति निशान्त भी स्त्री–उत्पीड़न की बात करती है।

केतन मेहता की 'मिर्च–मसाला' सत्ता के अहंकार में डूबे पुरूषों द्वारा स्त्री देह की उपलब्धता को आसान समझने की मानसिकता पर करारा तमाचा है। गाँव में कर वसूलने आया सूबेदार (नसीरूद्दीन शाह) सोन बाई (स्मिता पाटिल) को पाना चाहता है। गाँव के सारे पुरूष भी सोनबाई पर सूबेदार के समक्ष समर्पण करने का दबाव बनाते है। लेकिन सोनबाई अपने आत्म–सम्मान का सौदा करने के लिए तैयार नहीं है। वह सूबेदार के सामने झुकने से इनकार कर देती है। अपनी आबरू और स्वाभिमान की रक्षा के लिए वह अकेले संघर्ष करती है। अन्ततः कारखाने की औरतें उसका साथ देती है और सूबेदार की आंखों में लाल मिर्च झोंक कर स्त्री की मजबूत उपस्थिति का अहसास करवाती है। यह फिल्म दिखाती है कि स्त्री विलासिता और अय्याशी की वस्तु नहीं है।

हिन्दी सिनेमा में स्त्री विमर्श को जो स्थान मिला है, उसमें समानान्तर सिनेमा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। श्याम बेनेगल की 'मण्डी' फिल्म सदियों से समाज में फैली वेश्यावृत्ति के कारणों की पड़ताल करती हैं। फिल्म में 'रूक्मिणी बाई का कोठा' शहर भर की आंखों की किरकिरी है। सभ्य समाज उसे अपने मध्य एक कलंक की तरह देखता है। पूँजीपति वर्ग शहर के मध्य स्थित उस कोठे की कीमती जमीन को हथियाने के लिए योजना बनाता है और इस योजना में नगर निगम और समाज सेवकों को इस्तेमाल करता है, परिणामतः इनके सम्मिलित प्रयासों से शहर की नैतिक सफाई के नाम पर कोठा शहर से हटाकर दूर एक वीरान जगह पर शिफ्ट कर दिया जाता है। फिल्म दर्शाती है कि वीरान जगह पर कोठे की वजह से लोगों की आवाजाही शुरू होती है, अन्ततः वह वीरान जगह भी गुलजार होने लगती है। समाज की मान्यता के विपरित फिल्म संदेश देती है कि वेश्यावृत्ति के लिए स्त्री नहीं पुरूष वर्ग दोषी है।

समानान्तर सिनेमा के दौर में स्त्री–निर्देशिकों ने भी बेहतर और सशक्त तरीके से अपनी उपस्थिति दर्शाते हुए परम्परागत रूढ़ियों को तोड़ने का प्रयास किया है। अपर्णा सेन की फिल्म 'परोमा' में एक स्त्री की जिन्दगी अपने समस्त सामाजिक और पारिवारिक कर्तव्यों को निभाने में बीत रही है। उसकी अपनी कोई जिन्दगी नहीं रही हैं। पति उसकी उपेक्षा करता है। जब वह इन सबके मध्य अपने हिस्से की थोड़ी–सी स्वतन्त्रता, थोड़ी सी जिन्दगी जीना चाहती है तो उसके अपने ही उससे मुँह फेर लेते है। लेकिन परमा को कोई अपराध बोध नहीं हैं। इसके विपरीत वह जिन्दगी को नयी दृष्टि से देखने का साहस पा लेती है।

समानान्तर सिनेमा की बाजार, भूमिका, उसकी रोटी, सारा आकाश, इजाजत, दीक्षा, दामुल, गमन, 36 चौरंगी लेन, रूदाली, पार आदि अनेक फिल्में है जो स्त्री सम्बन्धी विविध प्रश्नों को मुखरता से उठाते हुए उसकी स्थिति का गहनता से विश्लेषण करती है। श्याम बेनेगल की भूमिका भी कामकाजी महिला के शोषण की कहानी है। मराठी अभिनेत्री हंसा वाडेकर की आत्म–कथा 'सांगत्ये एका' पर आधारित 'भूमिका'' भी नायिका ऊषा के

अपने अस्तित्व की तलाश में दर–दर भटकने की कथा है। "भूमिका में ऊषा का भटकना एक स्त्री का भटकाव मात्र नहीं हैं। उषा/उर्वशी तो एक प्रतिनिधि पात्र है। श्याम बेनेगल ने 'भूमिका' की उषा/उर्वशी के माध्यम से सम्पूर्ण स्त्री–समाज की बात की है श्याम बेनेगल ने उषा/उर्वशी के रूप में फेमिनिज्म आन्दोलन के एक प्रतीक को परदे पर प्रस्तुत कर दिया है।"[4]

सागर सरहदी की 1982 में आयी 'बाजार' फिल्म मुस्लिम समाज में स्त्रियों के शोषण को उजागर करती है। फिल्म में नजमा (स्मिता पाटिल) को अपने घर से भागना पड़ता है क्योंकि परिवार की नवाबी ठसक के कारण घर के पुरूष बाहर जाकर कमाना शान के खिलाफ समझते है। घर चलाने के लिए नजमा की माँ उसे जबरन जिस्मफरोशी के लिए मजबूर करती है। वह नजमा को समझाते हुए कहती है–

माँ – 'हमारे खानदान में नौंकरा रखते है बेटी नौकरी नहीं करते।'

–'मान जाओ बेटी किसी को कानोकान खबर नहीं होगी।'

–'इनो कोई काम भी तो नही करते नवाब है न इज्जत जाती है।'

फिल्म में आये संवाद दर्शाते हैं कि झूठे पारिवारिक दम्भ के नाम पर परिवार ही स्त्री का शोषण करने के लिए तैयार है।

गरीबी और जिस्मफरोशी का दबाव नजमा को घर से अख्तर के साथ भागने पर विवश कर देता है। अनेक वर्षों के बाद नजमा अधेड़ उम्र के रईस जाकिर के लिए दुल्हन ढूँढने हैदराबाद लौटती है। इलाके की तमाम स्त्रियों को खबर होते ही वे नजमा के सामने अपनी बेटियों के साथ उपस्थित होती है और थोड़ी ही देर में नजमा के सामने कमसिन लड़कियों का बाजार सज जाता है।[5] फिल्म दर्शाती है कि पूँजीवादी समाज में आज भी औरत एक उपभोग की सामग्री से अधिक कुछ भी नहीं है, फिल्म में नजमा का संवाद इसी भाव को व्यक्त करता है–

"जाकिर भाई, आपके बाजार में सबसे सस्ती अगर कोई चीज है तो वह है औरत।"

यह फिल्म हैदराबाद के पारम्परिक मुस्लिम परिवारों की टोह लेती कमसिन लड़कियों की खरीद–फरोख्त को बयां करती है और पूँजीपति वर्ग द्वारा औरत के शोषण को दर्शाती हुई हर स्थिति में उसे उपभोग की वस्तु बनाये रखने की मानसिकता को प्रकट करती है।

हैदराबाद जैसे शहरों में कमजोर सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि के परिवारों की बच्चियाँ आज भी खाड़ी देशों के शेखों को दुल्हन बनाकर बेच दी जाती है। सन् 1991 में ऐसे ही हैदराबाद की ग्यारह वर्षीय बच्ची अमीना का केस दुनिया के सामने आया था। इण्ड़ियन एयरलाइन्स की एक एयरहोस्टेस अमृता अहलुवालिया ने हैदराबाद–दिल्ली फ्लाइट में ग्यारह वर्षीय बच्ची को रोते हुए देखा। बच्ची का नाम अमीना था और उसके गरीब माँ–बाप ने उसका निकाह सऊदी अरब के एक 60 वर्षीय बूढ़े शेख से रूपये लेकर कर दिया था। अमृता की पहल पर वो बच्ची सऊदी अरब जाने बच गयी। दौलत के बल पर कमसिन बच्चियों को खरीदने–बेचने का यह सिलसिला आज भी नहीं रूका है।

समानान्तर सिनेमा ने व्यावसायिक सिनेमा में फार्मूलाबद्ध स्त्री–किरदारों की जगह सामाजिक यथार्थ की जमीन पर जीती–जागती स्त्री को अपनी फिल्मों में प्रस्तुत किया। पहली बार हिन्दी सिनेमा के दर्शको को समाज में स्त्री पर होने वाले अत्याचार और उत्पीड़न की सच्ची तस्वीर दिखायी। लेकिन समानान्तर सिनेमा की विशेषता है कि इसके स्त्री पात्र अन्याय–अत्याचार को खामोशी से नहीं, सहते बल्कि सदैव परिस्थितियों से दो–दो हाथ करते दिखाई देते है।

समानान्तर सिनेमा की इस परम्परा को सत्यजित राय, ऋत्विक घटक, मृणाल सेन, मणि कौल, बासु चटर्जी, अडूरगोपाल कृष्णन, कुमार शाहनी, गौतम घोष, अर्पणा सेन, एम. एस. सथ्यू, श्याम बेनेगल, गोविन्द निहलानी, सई परांजपे, केतन मेहता, जी. अरविन्दन जैसे हस्ताक्षरों ने समृद्ध किया है। यह आन्दोलन सामन्ती परिवेश की जड़ता को खत्म करने, स्त्री–अधिकारों की मुक्ति के प्रश्न और शोषितों–उत्पीड़ितों के सहज प्रतिरोध

को उभारने में भारतीय समाज की मदद करता है। शायद इसी कारण से यह मूलतः साहित्य से अपने सृजनात्मक सम्बन्धों की बिना पर एक अखिल भारतीय आन्दोलन का स्वरूप अख़्तियार कर पाया।[6] समानान्तर सिनेमा आन्दोलन का प्रवाह नब्बें के दशक में मन्द पड़ता चला गया। समानान्तर सिनेमा ने सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्ति देने की सार्थक कोशिश की थी। इस आन्दोलन का प्रभाव इसके अवसान के बाद इक्कीसवीं सदी की फिल्मों पर भी देखा जा सकता है। बेंडिट क्वीन, चाँदनी बार, लज्जा, मृत्युदण्ड, कॉरपोरेट, डोर, हाइवे, पेज थ्री, फैशन, वेलकम टू सज्जनपुर, आदि फिल्मों को देखकर लगता है कि समानान्तर सिनेमा का दौर फिर से लौटने लगा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. जवरीमल्ल पारख – हिन्दी सिनेमा का समाजशस्त्र, ग्रंथ शिल्पी नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – 2006, पृष्ठ सं.–113
2. जवरीमल्ल पारख – हिन्दी सिनेमा का समाजशस्त्र, ग्रंथ शिल्पी नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – 2006, पृष्ठ सं.–113
3. प्रमोद कुमार बर्णवाल, श्याम बेनेगल और समान्तर सिनेमा, अंतिका प्रकाशन प्रा.लि. गाजियाबाद, प्रथम संस्करण – 2020, पृष्ठ सं.–36
4. प्रमोद कुमार वर्णवाल, श्याम बेनेगल और समानान्तर सिनेमा, अंतिका प्रकाशन प्रा.लि., गाजियाबाद, प्रथम संस्करण – 2020, पृष्ठ सं.–242
5. संदीप कुमार पाण्डेय, अधूरी तमन्नाओं का सफर है बाजार (लेख), हिन्दी सिनेमा–बींसवीं से इक्कीसवीं सदी तक, सम्पादकः प्रहलाद अग्रवाल, साहित्य भण्डार, इलाहबाद, प्रथम संस्करण – 2009, पृष्ठ सं. –410,412
6. मानवेन्द्र सिंह, समानान्तर सिनेमा आन्दोलन (लेख), समय से संवादः 5 – हिन्दी सिनेमा की यात्रा, सम्पादक : पंकज शर्मा, अनन्य प्रकाशन दिल्ली, 2018, पृष्ठ सं. – 70।

❖◆❖